कबीर के दर्शन में राम का स्वरूप

प्रो. शिशिर कुमार मण्डल[1],रामेश्वर प्रसाद डौन्डे[2]
[1]प्रो. एवं विभागाध्यक्ष, विकृति विज्ञान विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान, संस्थान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी
[2]शोधच्छात्र (योग विज्ञान), विकृति विज्ञान विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

शोध पत्र सारःकबीर ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना की। इन्होंने निर्गुण ब्रह्म के लिए 'राम' नाम का प्रयोग किया है। ऐसा प्रसिद्ध है कि ब्रह्ममुहर्त में घाट पर सोए कबीर पर रामानंद जी के पैर पड़े तो उन्होंने कहा–'राम–राम कह'। रामानंद जी के इसी कथन को कबीर ने गुरु मंत्र मान लिया और राम की भक्ति करने लगे। परन्तु उनके राम दशरथी राम नहीं है, वे तो अगम–अगोचर और अविनाशी हैं। स्वयं कबीर अपने राम के विषय में कहते हैं–

"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना,राम नाम का मरम है आना।"

ब्रह्म के विषय में उन्होंने जो विचार व्यक्त किए हैं। वे उनकी स्वानुभूति का परिणाम है। उन्होंने जो कुछ भी कहा, वह बुद्धि तथा ह्रदय के योग से कहा। ब्रह्म के साक्षात्कार का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं –

"लाली मेरे लाल की जित देखु तित लाल।
लाली देखन में गई, मैं भी हो गई लाल।।"

कबीर का ब्रह्म संबंधी ज्ञान उपनिषदों के अद्वैतवाद से प्रभावित है। आदि से अंत उनकी ब्रह्म भावना अद्वैत से संबंधित है। अद्वैतानुभूति को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं –

"कस्तुरि कुंडली बसे, मृग ढूंढै बन माहिं।
ऐसे घट–घट राम हैं, दुनिया देखत नाहिं।।"

वे कहते हैं कि राम कस्तूरी की सुगंध के समान सुक्ष्म है और हर किसी के अंतर में उसका निवास है पर अज्ञानी मनुष्य वनों और गुफाओं रूपी इस संसार में उनकी तलाश कर रहा है। राम जब प्रत्येक के अंतर में निवास करते है तो उन्हें मंदिर–मस्जिद आदि बाहरी स्थानों में ढूंढने की क्या आवश्यकता है? राम के दर्शन तो कुण्डलिनी जागृत कर षड्चक्र भेदन भर से स्वयं के अंतर में ही प्राप्त करना संभव है। जिस प्रकार अद्वैतवादियों का विश्वास है कि जीवात्मा और परमात्मा अलग–अलग नहीं हैं। वे एक ही है उसी प्रकार कबीर भी जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता पर बल दिया है। कबीर यह मानते हैं कि प्रत्येक प्राणी में परम तत्व की अवस्थिति है किन्तु अज्ञान का पर्दा पड़ा होने से प्राणी उस परम तत्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता। कबीर ने माया का जो रूप लिया है, वे भी वेदान्त के ही अद्वैतवाद से मेल खाता है। मानव शरीर को क्षणभंगुर माना है। इसलिए वे कहते हैं कि इस शरीर को पाकर माता–पिता, भाई–बहन, धन–दौलत आदि किसी से भी मोह मत करो। संसार की क्षणभंगुरता का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं–

"झूठे सुख को सुख कहैं मानत हैं मन मोद।
जगत चबेना काल का कुछ मुख कुछ गोद।।

मुख्य शब्द :राम, निर्गुण ब्रह्म, आत्मा, जीव, जगत, माया।

प्रस्तावनाः

कबीर का स्थान भक्तिकाल में ध्रुव तारे के समान है। कबीर ऐसे समय में हुए जब समाज में रूढ़िवादिता, बाह्याडम्बर, अंधविश्वास का बोलबाला था। धार्मिक आडम्बरों के कारण सत्य छिप सा गया था। कबीर सच्चे संत थे। साथ ही सच्चे कर्मयोगी भी थे। कबीर समाज–सुधारक और निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। कबीर के पहले और बाद में राम–भक्ति की एक परम्परा मिलती है। वाल्मीकि से लेकर तुलसी और आधुनिक काल में निराला की कविताओं में राम की गूँज मिलती है। कबीर अपने राम के साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित करते हैं–'हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया'। भगवान के अपने भीतर होने की बात करता है। कबीर के राम मानवता की लड़ाई में एक विजयी झंडा हैं उनके राम किसी अवतारी राम से कम आदर्शवान् नहीं हैं। मनुष्य के समक्ष सृष्टि हमेशा कौतूहल का विषय रही है। सृष्टि को लेकर कई प्रश्न मानव को झकझोरते रहते हैं यथा– सृष्टि क्या है? इसका रचनाकार कौन है? सृष्टि कैसे बनी? जीव क्या? ब्रह्म क्या है? परंब्रह्म क्या है? जीवन का उद्देश्य क्या है? आदि–आदि। इन जिज्ञासाओं का दार्शनिक अपने–अपने ज्ञानानुसार समाधान करने का प्रयास करते रहते हैं। कबीर ने दर्शनशास्त्र विषयक पुस्तकों के अध्ययन के आधार पर नहीं अपितु साधना एवं चिंतन के आधार पर ब्रह्म, जीव, जगत, माया एवं सहज साधना पर अपने विचार व्यक्त किए हैं।

कबीर का राम घट–घट में व्याप्त है, उसे खोजने के लिए कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता, उसकी प्राप्ति हृदय में ही हो सकती है यदि मन शुद्ध हो –

"कहै कबीर विचार करि, जिन कोई खोजे दुरि।
ध्यान धरौ मन सुद्ध करि, राम रहना भरपूरि।।"

उन्होंने निराकार ब्रह्म को ही अधिक अपनाया है और उसे सत, रज, तम इन तीनों गुणों से परे माना है–

"राजस, तामसं, सातिग, तीन्यूँ, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हें, तिनहि परम पद पाया।।"

इतना सब कुछ होने पर भी कबीर ने अपने ब्रह्म को एक विशुद्ध सगुणोपासक की भाँति माँ, बाप, पीर, साहब आदि तक कह डाला है। वस्तुस्थिति यह हैं कि जब कबीर एक दार्शनिक के स्तर से बोलते हैं उस समय वे ब्रह्म को अविगत, निराकार, निर्गुण, निरंजन आम तथा अगोचार ही मानते है।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। हृदय रूपी मंदिर ही ब्रह्म का प्रवेश द्वार है। वह हृदय में उसी प्रकार छिपा है जैसे तिल में तेल छिपा रहता है। कबीर कहते हैं कि ब्रह्म को मंदिर, मस्जिद में ढूँढने की जरूरत नहीं है–

"मोकों कहाँ ढूँढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में ।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।"[1]

कबीर के राम, उनके निर्गुण ब्रह्म जिसके हृदय में आ जाते हैं, वह अनायास ही मती–बुद्धि पा जाता है–

"रसनां राम गुन रमि रस पीजै।
गुन अतीत निरमोलिक लीजै।।
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई।
जा सुमिरत सुधि–बुधि–मति पाई।।"[2]

तुलसी में राम के प्रति समर्पण की भावना तब झलकती है जब वे कहते हैं कि उनमें कवि का गुण नहीं है, राम का गुणगान करना ही सब कुछ है –

"कवित्त विवेक एक नहीं मोरे।
सत्य कहऊँ लिखि कागद कोरे।।"

कबीर अपने राम के माध्यम से मानव में आध्यात्मिक उत्कर्ष नहीं चाहते हैं। उनके लिए महत्वपूर्ण है समाज में मनुष्यत्व का जागरण। सत्य के दो रूप बतलाए गए हैं – पारमार्थिक रूप और व्यावहारिक रूप। पारमार्थिक सत्य में व्यक्ति–व्यक्ति में भेद नहीं होता है, पर व्यावहारिक सत्य में यह भेद जरूरी है। कबीर पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य में एकता की बात करते हैं और समतामूलक मानवीय समाज की माँग करते हैं।

मराठी कवि शरणकुमार लिम्बाले की कविता है –

"मस्जिद से अजान की आवाज़ आई
सब मुसलमान मस्जिद चले गए।
गिरजे की घंटियाँ बजीं
सब ईसाई गिरजे में चले गए।
मंदिर से घंटे की आवाज़ आई।
आधे लोग मंदिर में चले गए,
आधे बाहर ही रहे।"

आधे लोग बाहर क्यों रह गए, कबीर की मूल समस्या यही है। अगर भगवान् सचमुच सबके लिए हैं तो यह भेद क्यों? कबीर को यही प्रश्न उलझाता है, सताता है। वे उस भक्ति को ही झूठा मानते हैं जो आधे लोगों को मंदिर में घुसने नहीं देती। जो भगवान् मानव–मानव में भेद करे वह सचमुच में भगवान् है क्या...? वह पत्थर की मूर्ति के सिवा कुछ नहीं। कबीर का व्यंग्य सामाजिक वेदना के चलते यहाँ कितना तीखा हो गया है –

"पाहन पूजै हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
चाकी क्यों नहीं पूजिए पीस खाए संसार।।"

कबीर के राम उन्हें काम करना सिखाते हैं। तुलसी सिर्फ़ राम का गुणगान करके ही संतुष्ट हो जाते हैं। निर्गुण भक्तों के यहाँ श्रम महत्वपूर्ण है। रैदास की इन पंक्तियों में श्रम की महत्ता उफन रही है –

"जिह्वा भजै हरिनाम नित, हत्थ करहिं नित काम।
'रविदास' भए निहचंत हम, श्रम चित करेंगे राम।।"

साधना के पक्ष में मरण और अमरता का खेल कबीर के यहाँ कई रूप धारण करता है। कबीर और तुलसी के रामों पर साथ–साथ विचार करना दोनों के रामों को अच्छी तरह समझने में सहायक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पर विचार किया था। उनके सूत्रों के सहारे हम जान सकते हैं। कबीर और तुलसी दोनों मानवीय भावना के आश्रय हैं, आलम्बन तो हैं ही। अन्तर यह है कि कबीर के राम के पास केवल मानव हृदय है, तुलसी के राम के हृदय और शरीर दोनों हैं। कबीर के राम जननी हैं, भ्राता हैं, पिता हैं और तो और उन्हें कुत्ते पालने का भी शौक है, लेकिन सब भाव रूप में लीला रूप में नहीं। कबीर और तुलसी के रामों का यह अंतर कबीर और तुलसी की संगति में है। कबीर के राम लोकनायक नहीं। कबीर के राम लोक में समाए जरूर हैं लेकिन निराकार हैं। वे मनुष्य नहीं हो सकते थे। वे मनुष्य होते भी तो जुलाहा होते या जूता गांढने वाले मोची, छीपी या दरजी या शाधन कसाई। और कबीर के युग की बात छोड़िए। भारतीय साहित्य की बात हम नहीं जानते।

कबीर के राम उस अर्थ में सामाजिक – ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं जिस अर्थ में तुलसी के राम। सौभाग्यवश कबीर के यहां भी रामराज का स्वप्न देखने वाला एक दोहा मिलता है–

मैं वासा मोई किया दुरिजन काठे इरि
राम पियारे राम का नगर बस्या भरपूरि

कबीर के राम राजा न हों, लोकनायक न हों लेकिन वे निर्गुण होते हुए भी सामाजिक–मानवीय गुणों के प्रतीक, स्रोत एवं समुच्चय हैं।

''पवन जाहि आकास जाहिगे जंद जाहिगे सरारे
हम नाहीं तुम नाहीं रे भाई रामरहे भरपूरा रे।''

जगत असत्य है राम सत्य है। सत्य अर्थात् जो रह सके। जिसमें सदैव रहने की प्रकृति या गुण हों।

1. ब्रह्म– कबीरदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे, जिसे उन्होंने राम, मोहन, केशव, हरि, रहीम आदि अनेक नामों से संबोधित किया। उन्होंने ईश्वर विषयक कुछ सम्बोधन इस्लाम धर्म के और अधिकांश सम्बोधन हिन्दू धर्म से लिए हैं। उन्होंने अव्यक्त, अनिर्वचनीय, निराकार ब्रह्म को 'राम' नाम से अधिक सम्बोधित किया है। कबीर के राम सगुण साकार नहीं हैं वे तो अव्यक्त, निर्गुण और निराकार हैं। समस्त प्राणियों में उनका निवास है। वह देश और काल से परे हैं किन्तु घट–घट में समाये हुए हैं। कबीर के राम कुछ अंश में वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के समान हैं, किन्तु कबीर ने उसे विश्व से परे और विश्वव्यापी

दोनों कहकर वेदान्त के ब्रह्म से अलग बताया है। कबीर मानते हैं कि भक्ति, उपासना तथा साधना से भक्त परमब्रह्म को प्राप्त कर उसमें विलीन होकर एकमेव हो जाता है।

कबीर ने जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों को पति–पत्नी के सम्बन्धों का रूपक लेकर व्यक्त किया है। कबीर ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सहज साधना को सर्वोपरि माना है। कबीर की साधना में उपनिषदों के ज्ञान, योग और प्रेम का अद्‌भुत एवं मनोरम समन्वय है। सर्वत्र उसका निरूपण उपनिषदों के समान अद्वैती भावना से उत्प्रेरित होकर ही करते हैं–

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़े बन माहिं।
ऐसे घट घट राम है, दुनिया देखे नाहिं।"

कबीर का विचार था कि ब्रह्म के मूल तत्त्व को समझाना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जो लोग ऐसा नहीं करते वे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर पाते। कबीर कहते हैं–

"न जानै साहब कैसा है,
मुल्ला होकर बाँग जो दैवे,
क्या तेरा साहब बहरा है।"[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहते हैं कि "कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म सत्ता का संकेत मिलता है तो कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है तो कहीं सोपाधि ईश्वर की झलक मिलती है।"

कबीर के राम अगम, अगोचर, अविनाशी, अरूप, अनाम, निराकार और निरंजन है। वह तेजोमय हैं, उनके अलौकिक तेज की समता करोड़ों सूर्यों का संयुक्त प्रकाश भी नहीं कर सकता है। राम लोकातीत हैं, फिर भी लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। 'घट–घट' में उनका निवास है तथा बाहर प्रकृति में भी हर ओर उनका ही प्रतिबिम्ब है। राम सबके अंदर हैं तथा सब राम के अंदर हैं, बिल्कुल सागर में डूबे घड़े के समान –

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत सुनहु गियानी।।"[4]

कबीर जी तो घोषणा करते हैं कि उस परमतत्त्व को न कोई देख सकता है, न प्राप्त कर सकता है। वह न खाता है, न पीता है, न जीता है, न मरता है। उसका कोई रूप–रंग अथवा वेशभूषा नहीं है। वह असीम, अनन्त, अनिर्वचनीय, अरूप तथा सर्वव्यापी है। कबीर कहते हैं –

"प्रथम एक तो आयै आप, निराकार निर्गुण निर्जाप।।"[5]

उसकी शक्ति, प्रकाश तथा रुप स्वरूप तक कोई नहीं पहुँच सकता। कबीर ने अपने परब्रह्म के मधुर संबंधों की स्थापना की है। तथापि वे दांपत्य प्रेम पद्धति का सहारा हैं। वे स्वयं को ब्रह्म की प्रेमिका मानते हुए कहते है कि –

"बालम आउ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।।"[6]

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म तो घट–घटवासी है फिर भी मूर्ख लोग उन्हें बाहर खोजते हैं। आत्मज्ञान से ही वह मिलते हैं, तीथव्रत से नहीं –

"पानी बिच मीन पियासी, मोहि सुन सुन आवै हाँसी।।"[7]

कबीर का मानना है कि सद्गुरु मिलने पर तथा उनके बताये मार्ग पर चलकर ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है –

"नाना भेष बनाय सबै मिलि, ढूँढि फिरे चहुँ देस।
कहैं कबीर अंत ना पैहौ, बिन सतगुरु उपदेस।।"

कबीर ने ब्रह्म की शक्ति और स्वरूप को अर्निवचनीय कहा है। वेदों में भी उसे 'नेति–नेति' कहा गया है। ब्रह्म रहस्यमय है, अद्भुत से भी अद्भुत है, उसकी शक्ति अपार है। ब्रह्म को पाना बड़ा कठिन है, उसे पाने के लिए साधक को अपने विवेक से साधना पद्धति चुनकर उस पर चलना होगा –

"करता की गति अगम है, तू चल अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पाँव दे, पहुँचैंगे परवान।।"[8]

कबीर कहते हैं कि मैं ब्रह्म को खोजते–खोजते ब्रह्ममय हो गया हूँ। स्वयं ब्रह्म ने आकर स्वयं को मुझसे एकाकार कर लिया है। अब दोनों की पृथक सत्ता नहीं रह गयी है–

"हेरत हेरत है सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समँद समाना बूँद में, सो कत हेर्या जाइ।।"[9]

जिस भांति ब्रह्म को कबीर ने हृदस्थ मानकर पत्रिका आदि लिखने का विरोध किया है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बवाद के आश्रय पर उसे सर्वत्र भी माना है–

"ज्यू जल में प्रतिबिम्ब, त्यूं सकल रामहिं जानिजै।"

अद्वैतियों के ही समान कबीर का विश्वास है कि ब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का निर्माण होता है और उसी के द्वारा उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है–

"पानी ही ते हिम भ्या, हिम ही गया बिलाय।
कबीरा जो था सो भया अब कुछ कही न जाय।।

सृष्टि निर्माता होने के साथ–साथ यह ब्रह्म पूर्ण निराकार, रूपविहीन, निर्लिप्त है, समस्त सृष्टि के अणु–प्रति– अणु में व्याप्त होकर भी प्रत्येक घट में भी वास करता है– "शरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप।

परम ज्योति पुरुसोत्तम, जाखे रेख न रूप।।

उसे शरीर स्थित ज्योतिस्वरूप निराकार मानकर भी कबीर ने अद्वैती भावानुरूप अखण्ड एकरस माना है–

आदि मध्य और अन्त लौ, अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस कर्ता की, सेवक तजै न संग।।"

समस्त सृष्टिव्यापी होने के साथ–साथ उस ब्रह्म की महिमा अपार है। वह इतना सामर्थ्यवान है कि बिना इन्द्रियों के स्वरूप के भी समस्त कार्य कर रहा है–

"बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गावै।
आछै रहें ठौर नहीं छाड़, दस दिसिहीं फिरि आवै।
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पर ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजे, तहाँ निरतत है गोपाला।।

वास्तव में इनकी शक्ति का वर्णन करना सम्भव ही नहीं, वह तो अनुभव की ही वस्तु है–

"पारब्रहम के तेज का, कैसा है उन्मान।
कहिबै कूँ शोभा नहीं देखा ही परवान।।"

उन स्थलों पर प्रेमातिरेक ने कबीर को सगुण भक्तों की भावभूमि पर ही पहुँचा दिया है–

"माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी जनमि होत नहीं साधी ।
कारनि कवन आड़ जग जनम्याँ, जनमि कवन सचु पाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया।
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ हारी।।
कहै कबीर धीर मति राखहु सासति करो हमारी।।

अतः यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म को निर्गुण मानकर भी कबीर उसके सगुण स्वरूप से अछूते नहीं रहे हैं, इसकी यत्किंचित् स्वीकृति उनके निम्न कथन में भी प्राप्त होती है–

"संतो धोखा का सों कहिये।
गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण है, बाट छांडि क्या बहिए।।"

अतः हम कह सकते हैं कि कबीर का ब्रह्म अधिकांशतः अद्वैतीस्वरूप का निर्गुण, निराकार, निरुपाधि है, किन्तु कहीं–कहीं उसमें सगुण भावनाओं के लिए भी स्थान है। इसका कारण कबीर की प्रेमाभक्ति और उपनिषदों का ब्रह्म को विरुद्ध धर्माश्रयी चित्रित करना है, जिसका प्रभाव इन पर पड़ा है।

2. आत्मा और शरीर – कबीर ने जीव को ब्रह्म का अंश माना है। वे जीव और ब्रह्म अथवा आत्मा और परमात्मा को एक मानते हैं, उन्होंने कहा भी है कि "आत्मा राव अवर नहि दूजा" जिस प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसी प्रकार आत्मा केवल शरीर न होकर सर्वत्र है। क्योंकि वह ब्रह्म का ही दूसरा स्वरूप है। आत्मा को ब्रह्म से अलग मानना केवल अज्ञान आधारित है। जब गुरु के द्वारा आत्मा ज्ञान से चेतनशील हो जाती है, तब परमात्मा मिलते हैं और जीव और ब्रह्म में 'अद्वैत' भाव स्थापित हो जाता है। इस स्थिति में दोनों एकाकार हो जाते हैं और जीव को अपने जीवन का महत्व व उद्देश्य अर्थात् ब्रह्म दर्शन प्राप्त हो जाता है। कबीर ने जीव को अपना वास्तविक स्वरूप पहचानने की बात कही है और जीव जब अपना और परमात्मा का एक ही स्वरूप जान जाता है तब वह सांसारिकता एवं त्रिविध दुःखों–दैहिक, दैविक, भौतिक से मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है, ऐसी आत्मा अजर–अमर हो जाती है। (नर से नारायण होना – स्वामी विवेकानन्द)

"प्रीतम के पतियां लिखूं, जो कहीं होय विदेसा
तन में मन में नैन में ताक कहा संदेस।"

इसी अद्वैतवाद के आधार पर ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए आत्मा विकल है। यह विरह–वियुक्तावस्था क्षणिक है, इसी भाव को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

"सेई तुम्ह सेई हम एक कहियत, जब आपा पर नहीं जाना।
ज्यू जल मैं पैसि न निकसै, कहै कबीर मन माना।।"

आत्मा और परमात्मा का यह पृथकत्व माया के कारण है, माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा पुनः एक हैं। यह उसी भांति है, जिस प्रकार जल में तैरते हुए कुम्भ में भी लहर वाला जल है, किन्तु दोनों एक जैसे होते हुए भी अलग–अलग हैं। दोनों का मिलन तभी संभव है, जब कुम्भ (शरीर–माया) की सत्ता समाप्त हो जाए।

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इति तथ कथ्यो ग्यानी।।

आत्मा और परमात्मा एक ही है। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, कबीर का भाव है कि जो कुछ समस्त बिम्ब– ब्रह्माण्ड में है, उस सबकी सत्ता शरीर में है, शरीर में ब्रह्मांड का ही लघु संस्करण है–

"ब्रह्मण्डे सो प्यण्डे जानि।"

किन्तु इस शरीर की स्थिति बड़ी क्षणिक है–

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात ।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात।।''

अन्यत्र भी उसकी क्षणिकता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर एवं नवीन उपमानों द्वारा कवि ने किया है। शरीर के लिए सर्वाधिक सुन्दर अंजलि के जल से दी है। अंजलि में रोका हुआ जल प्रतिपल रिसता रहता है, साथ ही किसी भी समय अंजलि खुल जाने पर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है –

"तन धन जौवन अंजुली को पानी, जात न लागै बार।
"जल अंजुली जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा।।"

साथ ही कबीर का यह भी विश्वास है कि शरीर पूर्ति के लिए नाना पाप कर्म करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि यह मिथ्या है। दूसरे हम जिनके लिए पाप–बोझढोते हैं, मृत्यु हो जाने पर, पंच तत्वमय शरीर की सत्ता समाप्त हो जाने पर किसी का भी राग इससे नहीं रह जाता है–

''मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ।
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लगी सग माड़।
मड़हट लूँ सब लोग कुटुम्बी, हंस अकेला जाई।।"

3. जगत–कबीर ने जगत को परमब्रह्म परमेश्वर की सत्ता माना है। उन्होंने जगत को सत्य, नित्य, शाश्वत एवं चिन्तन माना है, लेकिन वे संसार और जीवन को असत्य और क्षणभंगुर मानते हैं। कबीर के अनुसार संसार के विषयों से सुख प्राप्ति की अभिलाषा मात्र भ्रम है। मनुष्य संसार में आकर विषय–वासनाओं

एवं सांसारिकता में रहकर दुःख प्राप्त करता है। इसलिए उनका आग्रह है कि संसार को नश्वर जानकर मनुष्य को समय रहते जाग्रत होकर जन्म–मरण के चक्र से मुक्ति का प्रयास करना चाहिए। वे मानते हैं कि मनुष्य को यह मुक्ति स्वयं को ब्रह्म में लीन कर देने से मिलती है।

"माया दासी संत की ऊँची देह असीम।
बिलसी अरु नाती छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस।।"

कबीर ने अद्वैतियों के ही समान ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को अपनाकर संसार का वर्णन किया है। वह सर्वत्र संसार की सत्ता को मिथ्या मानते हैं और अद्वैतियों के ही समान उसके मिथ्या भाव को प्रकट करने के लिए सेमल फूल, आकाश नीलिमा, धुआँ धरोहर आदि के उपमान प्रयुक्त करते हैं।

"दिन दहूँ चहूं के कारण, जैसे सेमल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचै कूं भूले।।
दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रहयों है भूल ।
या बनासपति मैं लागेगी आगि, तब तू जैहाँ कहां भागि।

ईश्वर स्मरण के बिना यह मिथ्या संसार, जिसकी क्षणिक स्थिति है, और भी अधिक दुखदायी है, क्योंकि सर्वदा कच्चे धागे में लटकी तलवार की भांति काल सिर पर खड़ा रहता है–

"रामां बिना संसारधंध कुहेरा,
सिरि प्रगटया जंम का फेरा।।"

इस संसार का नाश सर्वथा निश्चित है, इसकी उत्पत्ति और प्रलय में कुछ समय नहीं लगता, वह भी पूर्ण अनिश्चित है–

"नर जाणे अमर मेरी काया धर धर बात दुपहरी छाया।
मारग छांड़ि कुमारग जोवें, आपण मरे और कूं रोवैं।।
कछु एक किया कछु एक करणां मुगध न चेतै निहचे मरणा।
ज्यू जल बूँद तैसा संसारा, उपजत बिन सत लगै न वारा।।"

कबीर का विश्वास है कि इस दुःख सुखमय संसार से तब तक छुटकारा नहीं हो सकता, जब हमारा मन निष्कलुष न हो– "जब लग मनहिं विकारा, तब लागि नहीं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल माहिं समाना।।

कबीर का विश्वास है कि इस संसार में जो जीवन मिला है, वह हमारे पिछले कुछ पुण्यों का फल है, अन्यथा 84 लाख योनियों में से किसी भी एक में हो सकते थे। इसलिए मनुष्य जन्म पा सत्कर्मो का व्यापार करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक हैं –

"चोखी बनज व्यपार करीजे, आइनै दिसावर रे राम जपि लाहौ लीजै।।"

अब कबीर तो इस व्यापार को करने में पूर्ण दक्ष हो गये हैं और उन्होंने सत्कर्मों की पूँजी संचित कर ली है, इसीलिए काल रूपी दलाल का भी उन्हें भय नहीं रहा–

"रे जम नांहि नये व्यापारी, जे भरें जगाति तुम्हारी।

वसुधा छाड़ि वनिज हम कीन्हों, लायौ हरि को नाऊँ।

राम नाम की गूंनि भराऊँ हरि के टांडै जाऊँ।"

4. माया– कबीर के अनुसार मनुष्य को राम में मिलाने में सबसे बड़ी बाधा माया है। कबीर ने माया को अविद्या कहा है। जो जीवों को मोहित करती है, सत्य और ज्ञान को ढँक लेती है, मनुष्य के भीतर काम, वासना तथा तृष्णा को जन्म देती है। माया के विभिन्न प्रकारों पर कबीर ने विशेष बल दिया है। वह काम, कामिनी, अहंकार, लोभ, मोह आदि विविध रूपों से मनुष्य को अपने जाल में फँसाती है। कबीर ने माया को विचित्र मोहिनी शक्ति कहा है जो बरबस जीव को अपनी ओर सम्मोहित करती है, यथा

माया ऐसी पापिणी, फन्दा ले बैठी हाट।

सब जग तो फन्दा परया, कबीरा आया काट।।

माया मन में आशा, तृष्णा, मान, सम्मान, लोभ मोह, क्रोध आदि को जन्म देती है। वह मन को अपने वशीभूत कर जीव को ब्रह्म की ओर उन्मुख नहीं होने देती। माया मन को प्रभावित कर साधना–पथ से विचलित कर देती है। कबीर ने ऐसे मन की निन्दा और भर्त्सना करते हुए कहा है कि

कोटि करम पल मैं करै, यह मन विषिय स्वादि।

सतगुरू सब्द न मानई, जनम गंवाया बादि।

ऐसे विषय आसक्त मन को ईश्वर की ओर उन्मुख करने के लिए कबीर ने उसे मार डालने की बात कही क्योंकि तभी जीव को ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है यथा

मैं मंता मन मारि रे, नान्हा करि–करि पीसि।

तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि।।

माया को वशीभूत करने के लिए कबीर ने भक्ति का मार्ग सुझाया है। भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण करने से माया का अन्धकार विलीन हो जाता है और जीव को मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतियों के ही समान मिथ्या मानकर किया है। कबीर की माया धर्म और स्वभाव से सांख्यवादियों की प्रकृति से बहुत मिलती–जुलती है। सांख्यानुरूप ही कबीर ने इसे ब्रह्म से सम्बद्ध और त्रिगुणात्मक प्रकृतियुक्त माया कहा है–

"राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया।

माया ने समस्त संसार को अपने वश में कर चरित्र भ्रष्ट कर रखा है। इसलिए कबीर ने इसे व्यभिचारिणी तक कह डाला

"तू माया रघुनाथ की, खेलड़ चढ़ी अहे।

चतुर चिकारे चुणि–चुणि मारे, कोइ द छोड्या नेडे।।

मुनियर पीर डिगंबर मारे जतन करता जोगी।

जंगत महि के जंगम मारे, तूरे फिरै बलिवंतीा।।

वेद पढ़न्त ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामी।

अरथ करता मिसर पछाड़या, तू रे फिर मैमती।।"

दास कबीर राम के सरनै, ज्यूं लागी त्युं तोरी।।

केवल प्रभु के दास ही इससे मुक्त हैं, अन्यथा और सब तो इसके बन्धन में आबद्ध हैं। यदि कोई माया से बचकर रहता है तो भी यह उसे अपने फंदे में फँसा लेती है इससे त्राण का एकमात्र उपाय प्रभु भक्ति है। इसी भक्त के सम्बल से कबीर ने इसे विजित किया है –

"कबीर माया पापणी, फंध ले बैठी हाटि।

सब जग तो फंधै पड्या, गया कबीरा काटि।।

इससे त्राण का एक और भी उपाय कबीर ने बताया है, वह यह कि एक बार यदि भक्त इसके मिथ्यात्व को हृदय में समझ लें और इसे मिथ्या मान इससे दूर रहने का उपाय करे तो फिर यह दासी की ताई चारों ओर लगी लगी फिरती है–

"कबीर माया मोहनी, मांगी मिलै न हाथि।

मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि।।

इसी विकर्षण से आकर्षण वाली बात को कबीर ने दूसरे प्रकार से कहा है–

"जो काटो तो डह डही सींचो तो कुम्हलाय।

इस गुणवन्ती बेल का, कुछ गुण कहा न जाय।।

इसी सिद्धान्त को अपनाकर सन्त लोग हंसात्माएँ माया को दासी बनाकर रखती हैं, जिसका वर्णन कबीर ने इन शब्दों में किया है।

5. सहज साधना– कबीर ने अपने उपदेशों में सहज शब्द का यत्र–तत्र जिक्र किया है। कबीर ने सहज शब्द कहीं ब्रह्म और कहीं उसे प्राप्ति की साधना के रूप में प्रयुक्त किया है। जो ब्रह्म वाणी द्वारा वर्णित नहीं हो सके जो कल्पना से परे है, जो विश्वातीत है उसे उन्होंने सहज कहा है। यही सहज भाव अंतरात्मा रूप में विद्यमान है। कबीर का सहज ज्ञान एवं प्रेम दोनों ही काव्य का विषय है। सहज ही परम प्रिय राम है जो प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। कबीर ने इस सहज की प्राप्ति के लिए विषय वासनाओं का त्याग आवश्यक माना है। कबीर ने सहज को साधना की अवस्था के रूप में प्रयुक्त किया है। वे मानते हैं कि सहज वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सरलता से विषय वासनाओं का त्याग कर सके, पाँचों इन्द्रियों को वश में कर सके, ऐसी पवित्र आत्मा राम में एकाकार होकर समा जाती है यथा

सहज, सहज सब कोई कहँ, सहज–चीन्हें कोई।

जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कही जै सोइ।।

कबीर की साधना में ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। कबीर ने सहज साधना को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनकी साधना में ज्ञान, योग और प्रेम की महती भूमिका है। कबीर की साधना में तीर्थ–व्रत, संन्यास, धूनी रमाना, शारीरिक आसन, प्राणायाम और ब्रह्म आडम्बरों के लिए कोई स्थान नहीं है वे तो नाम स्मरण, ब्रह्म में चित्त को स्थापित करने, अजपाजाप, तथा सहज शून्य में समाधि को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते हैं।

संदर्भ–सूची

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी –कबीर, पृष्ठ –269
2. कबीर ग्रंथावली
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (सं.), जायसी ग्रंथावली; पृ. 122
4. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर; पृ. 220
5. डॉ. धर्मवीर, हंस (पत्रिका, अंक–मार्च 1998, लेख–अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर), पृ. 53
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी –कबीर, पृष्ठ –183
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी –कबीर, पृष्ठ –90
8. प्रो. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज; पृ. 57
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ–64